

धार्मिक एकता के कुछ आयाम

डॉ. एम. डी. थॉमस

मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही विश्व में धर्म का कोई-न-कोई रूप सदैव रहा है। मनुष्य और सृष्टि की नश्वरता तथा अपूर्णता को ही धर्म के अस्तित्व का लौकिक कारण मानना संगत प्रतीत होता है। धर्म का उदय भय से हुआ होगा। फिर भी उसके मूल में श्रद्धा की भावना ही कार्यरत है।

लेकिन जैसे-जैसे धर्म सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ, वैसे-वैसे एक तरफ़ देवपूजा के नाम पर कर्मकाण्ड का बोलबाला था तो दूसरी तरफ़ दूसरे सम्प्रदायों के प्रति स्पर्धा की भावना। स्वार्थ, सत्ता का मोह आदि के कारण अपने सम्प्रदाय का अतिरंजित प्रचार तथा दूसरे का दमन प्रारम्भ हुआ। परस्पर विरोध तथा लड़ाई के कारण धर्म का स्वरूप विकृत हुआ। धर्म जो मानव के अभ्युदय तथा उसके लौकिक- अलौकिक कल्याण के लिए स्थापित हुआ था, वही कतिपय सन्दर्भों में एक अभिशाप साबित हुआ। संकीर्णता, अन्धविश्वास तथा मूल सिद्धान्त के प्रति कट्टरता के कारण धर्म में भारी मात्रा में अधर्म फैल गया। विडम्बना यह है कि जो धर्म मानवीय समाज में परिष्कार और व्यवस्था के साधन के रूप में उभरा वही अव्यवस्था और अशान्ति का हेतु बना। इससे मानवता को बड़ा आघात पहुँचता रहा।

सभ्यता की अतिशय उपलब्धियों तथा समन्वय के अनेक प्रयासों के बावजूद आज भी धर्म-सम्प्रदायों की परस्पर स्थिति मानव-संस्कृति के लिए लज्जाजनक है। ऐसी परिस्थिति में धर्म के भीतर समाविष्ट शिव-तत्व को उजागर करना नितान्त आवश्यक है। धर्म के मूल उद्देश्यों की उदारतापूर्वक व्याख्या करने के साथ-साथ उसके व्यावहारिक तत्वों पर अमल करना भी अनिवार्य है। धार्मिक सम्प्रदाय तभी एक-दूसरे के समीप आने लायक होंगे जब उनमें आपसी आदर-भाव तथा सहिष्णुता बनी रहे। धर्म की सार्थकता इसमें ही निहित है।

धार्मिक एकता का जहाँ तक प्रश्न है, एकता की बात तभी तर्कसंगत लगती है जब अनेक तत्व विद्यमान हों। धर्म के क्षेत्र में अनेक विभिन्नताओं का होने पर ही एकता की भावना उपलब्ध की जा सकती है। अतः विभिन्न मज़हबों, सम्प्रदायों, पंथों, विचारधाराओं तथा विश्वासों का होना उचित ही नहीं, अनिवार्य भी है। प्रकृति के फल-फूलों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, ऋतुओं तथा मनुष्य की मुस्कानों की विविधताएँ समष्टि के सौन्दर्य के लिए जितना जरूरी है ठीक उतना ही मानव-समाज के सौन्दर्य के लिए साम्प्रदायिक विभिन्नताएँ भी। विविधता की सुन्दरता भारतीय संस्कृति की ही नहीं, विश्व-संस्कृति की भी महानतम उपलब्धि है। यह विधाता की कलाकारिता का प्रसाद है। इसलिए धार्मिक भिन्नताओं को सहर्ष स्वीकार किया जाना चाहिए। विश्व में जितने मनुष्य हैं, धर्म के ठीक उतने ही पहलू भी। आने वाले दिनों में धर्म की शाखाओं की संख्या का बढ़ना उचित ही है। तब धार्मिक एकता का मार्ग और भी प्रशस्त होगा।

धार्मिक एकता के लिए सबसे पहला कदम है — धर्म सम्बन्धी अज्ञान का निवारण। कई तथाकथित धार्मिक लोग अपने सम्प्रदाय के प्रति अन्धविश्वास तथा दूसरे सम्प्रदायों के प्रति भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ पालते हैं। उन्हें अपने सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ तथा धार्मिक तत्वों के साथ-साथ अन्य सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थ तथा धार्मिक तत्वों को गहराई से जानना चाहिए। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन से पता चलेगा कि उनमें असमानताओं से कहीं अधिक समानताएँ हैं। धर्म विषयक उपर्युक्त अज्ञान का निवारण धार्मिक एकता की बुनियादी ज़रूरत है।

धर्म के लिए लातीनी शब्द 'रेलिगारे' का अर्थ है — 'बाँधना'। उपासक को उपास्य से तथा व्यक्ति को समाज से बाँधने वाला तत्व है। धर्म। जो विराट् साक्षात्कार करता है। वह समष्टि से जुड़े बिना नहीं रह सकता। जिसे ईश्वरता की अनुभूति होती है उसे

मानवता का एहसास न हो, यह सम्भव नहीं है। सच्ची धार्मिक भावना का साम्प्रदायिक संकीर्णता का शिकार होना भी असम्भव है।

भारतीय सन्दर्भ में धर्म के लिए 'धृ' धातु का अर्थ है — 'धारण करना'। धर्म वह वस्तु है जो समस्त विश्व को धारण कर रही है एक सम्प्रदाय के बजाय सम्पूर्ण समाज की एकता को मूर्तिमान करना उसकी भूमिका है। जब समस्त जीवन-पद्धति को आत्मसात् करने की क्षमता रखता है, तभी वह धर्म कहलाने योग्य है।

अधिकांश धर्म-सम्प्रदाय अपने अवलम्बियों में ईश्वर की मूलभूत सत्ता में विश्वास जागृत करते हैं। लेकिन बुद्धि, कल्पना, अनुभव, वातावरण आदि की विविधता के कारण लोगों में ईश्वर की धारणा भी विभिन्नताएँ ली हुई हैं। ईश्वर का आदर्श सामाजिक पर्यावरण से ही नहीं, मनुष्य के व्यक्तित्व से निःसृत होता है। इसलिए यह कहना उचित है कि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायों में ईश्वर का आंशिक स्वरूप ही प्राप्त होता है। समस्त सम्प्रदायों की समष्टि में ही ईश्वर का पूर्ण स्वरूप प्रतिफलित होता है। अतः धर्म-सम्प्रदायों का परस्पर समन्वित रहना अपरिहार्य है।

जिस प्रकार ईश्वर एक है, धर्म भी तो एक है, सम्प्रदाय ही अलग-अलग हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में धर्म का एक-एक पहलू ही विद्यमान है। धर्म अपनी परिपक्व अवस्था में अन्तर्गतों को भेदकर एकता को ढूँढ़ निकालता है। जहाँ संकीर्णता है, सीमाबद्धता है, क्षुद्रता है, भेद है, दीवारें हैं वहाँ धर्म का विशुद्ध रूप कभी उपलब्ध नहीं होता। कच्ची केरियों को आम कहना गलत है। अपरिपक्व व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। अविकसित मस्तिष्क और हृदय में आत्मा के प्रफुल्लित स्वरूप का होना असम्भव है। धर्म के विकसित अवस्था में सम्प्रदायों का समन्वित रहना आवश्यक है। विभिन्न सम्प्रदायों के समवाय में ही धर्म की सम्पूर्णता शोभित होती है।

धर्म एक गहरी अनुभूति का नाम है। इसमें परम सत्य का साक्षात्कार किया जाता है और उसके परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षण तथा कार्य को एक नया प्रकाश तथा उन्मेष प्राप्त होते हैं। धर्म वह ईश्वर-दर्शन है जिसे हृदय और भावना से स्वीकार किया जाता है और जीवन्त में उतारा जाता है। धर्म की इस विकसितावस्था में व्यक्ति अन्य सम्प्रदायों से पार्थक्य भूलकर द्वंद्वातीत स्थिति में पहुँचता है तथा मानवीय सौहार्द की भावना से भरकर समष्टि और विराट् में जीता है। जो साम्प्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठकर स्वार्थ से परार्थ की ओर तथा परार्थ से परमार्थ की ओर आग्रसर होता है, वही उस सिद्धि के अधिकारी है जो उसे धार्मिक साधना से उपलब्ध होती है।

धर्म ईश्वरीय सत्ता को जगत्पिता के रूप में चित्रित करता है। ईश्वर की यह सम्बन्धात्मक धारणा व्यावहारिक और सार्थक दोनों हैं। इसमें मनुष्य ईश्वर से पुत्र-भाव से सम्बन्ध जोड़ता है। जगत्पिता की छत्र-छाया में सम्पूर्ण मानव-समाज एक-दूसरे से भ्रातृ-भाव से जुड़कर एक इकाई बन जाता है। मानव-भावना की इस प्रफुल्लित अवस्था में साम्प्रदायिक दीवारें निरर्थक साबित हो जाती हैं। वहाँ न कोई जाति है, न वर्ग, न रंग या कोई भेद-भाव। वहाँ न ईसाई है, न हिन्दू, न मुसलमान, न सिक्ख या और कोई। वहाँ मात्र इन्सान है, और इन्सानियत। वहाँ मात्र एक धर्म है — मानव-भावना का। इसे कहते हैं — धर्मिक एकता।

रॉबर्ट लीट पैटर्सन का कहना है, 'धार्मिक' होने का अर्थ — 'विचारशील' होना। विचारशीलता के कारण ही धर्म में लचीलापन बना रहता है। अपनी परिस्थिति के अनुसार धर्म सदैव अपना स्वरूप बदलता रहता है। वह अपने चारों ओर की कला, साहित्य संस्कृति आदि को आत्मसात् कर उन्हें एक नयी दिशा प्रदान करता है। अन्य धर्म-सम्प्रदायों से समंजित रहने में सम्प्रदायों का असमर्थ होना मात्र विवेकहीनता है। विचारशीलता ही इस दुर्दशा का एकमात्र उपचार है।

जीवन जातिशीलता का नाम है। निरन्तर गतिमान होना उसका स्वभाव है। सुख-दुःख, न्याय-अन्याय, भलाई-बुराई आदि द्विपक्षों की उपस्थिति गतिशीलता का प्राण-तत्व है। इस आन्तरिक संघर्ष में आवश्यक आध्यात्मिक दृष्टि धार्मिक चेतना की ही देन है।

धार्मिक चेतना में दीक्षित व्यक्ति साम्प्रदायिक परिधियों में कैद नहीं हो सकता, बल्कि सम्पूर्ण मानव-समाज में चलायमान रहता है। महात्मा कबीर की दो पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में बहुत सार्थक हैं — “बहता पानी निर्मला, बन्धा गंदला होय। साधु जन रमता भला, दाग न लागे कोय।” साम्प्रदायों के दायरे में बन्द धर्म-भावना का किसी पोखरे में बन्द पानी के समान स्वार्थ आदि से कलंकित होकर गन्दा हो जाना स्वाभाविक है। साधुता, आध्यात्मिकता या धर्म को सम्पूर्ण समाज में गतिशील बना रहना परम आवश्यक है, जिससे वह कहीं दागयुक्त न हो जाये।

धर्म मूलतः यह वैयक्तिक साधना है। एक सीमा तक मन्दिर, मस्जिद, व्यक्ति की सोई हुई धार्मिकता को जगा सकते हैं। लेकिन यदि व्यक्ति उन्हीं में खो गया तो वह रूढ़ी, रिवाजों तथा विधि-विधानों को धर्म समझने की भूल करता है। वह कभी भी मानवता की ओर विकसित नहीं हो पाता। साम्प्रदायिक भावना में उसकी धार्मिक चेतना कुंठित हो जाती है। किसी सम्प्रदाय का सदस्य होकर पैदा होना अच्छा ही है। लेकिन वहाँ धर्म के नाम पर अनाचार, अत्याचार, शोषण तथा संकीर्णता की अन्य विध्वंसक प्रवृत्तियों से जुड़े रहकर मानवता पर कहर बरसाते हुए मर जाना वास्तव में दयनीय है। सम्प्रदाय की सदस्यता यदि व्यक्ति को विश्व-मानवता की दिशा में विकसित होने की प्रेरणा नहीं देती तो निरर्थक है। जो व्यक्ति, व्यक्ति के रूप में मर जाता है लेकिन समष्टि और विराट् में जीता है, वही मुक्ति की दशा प्राप्त करता है, जो उसे अपनी धार्मिक साधना से प्राप्त होना चाहिए।

धर्म के दर्शन में तीनों पहलू दर्शाये जा सकते हैं। पहला है मूल्यात्मक धर्म। इसमें सिद्धान्त है, आदर्श है तथा मानव-समाज द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों का समुच्चय है। दूसरा है प्रेरणात्मक धर्म। यह धर्म का वह आध्यात्मिक स्रोत या आधार है जहाँ से धार्मिक शक्ति प्रवाहित होती है। तीसरा पहलू है क्रियात्मक धर्म। यह धर्म का आचरण पक्ष है। यह मानव-समाज की वह जीवन-पद्धति है जो संस्कृति के रूप में परिणत होती है। इन तीनों आयामों का पूर्ण समन्वय जब हो तभी धर्म की पूर्णावस्था प्रतिफलित होती है। यहाँ मजहब, सम्प्रदायादि, का भेद नहीं रहता बल्कि सभी का गन्तव्य एक ही रहता है।

बर्नार्ड शॉ की मान्यता है कि “यदि हम वास्तव में कुछ कार्य करना चाहते हैं तो हमारा किसी धर्म का होना ज़रूरी है।” धर्म ही हमें प्रेरणा, निष्ठा तथा समर्पित भाव से युक्त कर देता है, जिससे हम कोई कार्य भली-भाँति सम्पन्न कर पायेंगे। सच्ची धर्म-भावना से जागृत ये गुण पूर्ण रूप से मानवीय हैं, साम्प्रदायिक कदापि नहीं।

जीवन अमरता का नाम है। अमरता कर्मशीलता से प्राप्त होती है। धर्म-वृत्ति जीवन से पलायन कभी नहीं। उत्कृष्ट कोटि की धर्म-परायणता से कर्म की अनगिनत नदियाँ बहती हैं। इस कर्म में स्वयं की मुक्ति के नाम पर संसार के कल्याण की मूल भावना वर्तमान रहती है। ऐसी कर्मशीलता धार्मिकता वा उच्चतम धरातल साबित हो जाती है। तब धर्म वैयक्तिक न हो कर ईश्वरी प्रकृति का साधन है। मानवता की कल्याण-भावना से ओतप्रोत कर्मशीलता ही सच्ची धार्मिकता है, जिसमें अमरता की निधि सुरक्षित रहती है। धर्म-सम्प्रदायों की धार्मिक निष्ठा जब इस, एकतापरक कसौटी पर खरी उतरे, तभी वे सम्प्रदाय मानवता का हित करेंगे।

वर्तमान समाज की खास ज़रूरत के सन्दर्भ में विचार किया जाय। धर्म-सम्प्रदायों का स्वार्थवादी और खोखला कर्मकाण्ड बहुत हो चुका है। इन्होंने मानवता का हित करने के बहाने जाने-अनजाने उसमें काफी जहर फैलाया है। वे अपने-अपने देवालयों से प्रेरणा और चेतना अवश्य प्राप्त करें। लेकिन उन्हें मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों आदि पूजा-स्थानों से उठकर समाज के खुले मैदानों में आना चाहिए। वहाँ वे सप्रदाय स्वतंत्र रूप से तथा अन्य सम्प्रदायों से संयुक्त रूप से मानवोपयोगी सामाजिक गतिविधियों में सेवा-भाव से तथा निष्ठापूर्वक लग जायें। इस अग्नि-परीक्षा में धार्मिकता की असली परख होगी। कपटपूर्ण धार्मिकता की कलई खुलेगी तथा सच्ची धार्मिकता का सोना-सा निखार मानवता को प्रफुल्लित करेगा।

धर्म के विषय में प्रचलित आम धारणाएँ सम्प्रदायवादी हैं, धर्मवादी कम। इस स्थिति को बदलना ज़रूरी है। धर्म को एक आध्यात्मिक दृष्टि और अनुभूति एवं मानवता के प्रति प्रेमपूर्ण सेवा-भाव के रूप में अपनाना चाहिए। तभी उससे ईश्वरी चेतना उत्पन्न होगी, जो साम्प्रदायिक सीमाओं को भेदकर सम्पूर्ण मानव-समाज को मानव-भावना से परिपूर्ण करेगी। सभी धार्मिक

सम्प्रदाय धर्म की दुकानदारी तथा ठेकेदारी पूर्ण रूप से बन्द करके उसे जीना प्रारम्भ करें। संकीर्ण विचारों को त्यागकर व उदात्त और उदार जीवन शैली को अपनायें। धर्म के अधिकारी तथा नेता निहित स्वार्थ को छोड़कर समन्वयात्मक चिन्तन से अनुप्राणित हो जायें। वे स्वयं जीने तथा दूसरों को जीने देने की सर्वोत्तम जीवन-दृष्टि पर अमल करें एवं सद्भावना और सहयोग-भाव से मानव-कल्याण को प्रशस्त करने के लिए हाथ बढ़ायें। तभी धर्म मानव समाज को व्यवस्था, सन्तुलन सौन्दर्य और दिशा प्रदान करने में सफल होगा। इस प्रकार धर्म मानवता को निखारने और चरितार्थ करने का सशक्त साधन बना रहे। धर्म की यह तीर्थयात्रा विराट् की उँचाई तक पहुँच पाये, यही लेखक की आशा तथा शुभकामना है।

डॉ. एम. डी. थॉमस

संस्थापक निदेशक, इंस्टिट्यूट ऑफ़ हार्मनि एण्ड पीस स्टडीज़, नयी दिल्ली

प्रथम मंजिल, ए 128, सेक्टर 19, सेक्टर 19, द्वारका, नयी दिल्ली 110075

दूरभाष: 09810535378 (p), 08847925378 (p), 011-45575378 (o)

ईमेल : mdthomas53@gmail.com (p), ihps2014@gmail.com (o)

वेबसाइट: www.mdthomas.in (p), www.ihpsindia.org (o)

Twitter: <https://twitter.com/mdthomas53>

Facebook: <https://www.facebook.com/mdthomas53>

Academia.edu: <https://independent.academia.edu/MDTHOMAS>